आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454–2458
नवरचना NAVRACHNA
वर्ष 1, अंक 1, जून 2015, पृ. 21–31

भारतीय जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण

डॉ. राजा राम सिंह *

जनजातीय समुदाय में स्तरीकरण का मुद्दा अपने आप में अस्पष्टता को समेटे हुए है। समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों का एक वर्ग जनजातीय समुदाय को समस्तरीय मानता है (दुर्खीमः1933) तथा उन पर विश्वास करने वाले अध्येताओं का समूह एक लम्बे समय से अविभेदीकृत मानता रहा है। इस वर्ग को अध्ययन का आधार बनाने वाले अनुसंधानकर्ता जनजातीय समुदाय में विभेदीकरण एवं परिवर्तन की व्याख्या ''समस्तरीयता से विशमस्तरीयता की ओर'' के रुप में करते हैं। दूसरा वर्ग कठोरतापूर्वक इस बात का विरोध करता है कि जनजातीय समाज एक लम्बे समय तक समस्तरीय रहा है, इस पर वह तर्क रखता है कि कोई भी समुदाय या समाज पूर्णतया समस्तरीय हो ही नहीं सकता, कुछ पुरातन समुदाय इतने छोटे हैं कि उनमें कोई वर्ग स्तर दिखाई नहीं पड़ते, किन्तु ऐसे समुदायों में भी समुदाय का नेतृत्व, व्यक्तिगत बीरता तथा कौटुम्बिक अथवा गोत्रीय सम्पत्ति प्रारम्भिक स्तरीकरण का निर्माण करते हैं। (डेविस 2005: 323–324) तो वहीं जान्सन (1990: 461) जैसे विचारक अध्येता को वैचारिक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं एवं अप्रत्यक्ष रुप से यह स्वीकार करते हुए तर्क रखते हैं कि ''किसी भी समुदाय को किसी क्रम में रखना, महानतम से हीनतम अथवा उच्चतम से निम्नतम सदैव ही संभव होता है। प्रत्येक व्यवस्था की यह अनिवार्य आवश्यकता होती है कि वह अपने सदस्यों में किन्हीं भी आधारों पर कार्यों का विभाजन करे तथा पदों की संपूर्ति के लिए प्रेरणा एवं पुरस्कार प्रदान करे।''

सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा असमान पुरस्कार और उसके साथ सम्मिलित प्रस्थिति को अग्रेषित करती है। (पारसंस 1954: 69–88) समाज का ऐसे वर्गो या स्तरों में विभाजन सामाजिक संरचना की सार्वभौमिक विशेषता है, जो प्रतिष्ठा और शक्ति का पदानुक्रम निर्मित करता है। (बाटोमोर 2004:178) भारतीय जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों की श्रृंखला अपने आप में एक विरोधाभास को उत्पन्न करती है, जिसके कारण सैद्धान्तिक स्तर पर भारत में जनजातीय समुदाय समस्तरीय प्रतीत होता है, लेकिन आनुभविक स्तर पर यह ज्ञात होता है कि यह यर्थाथ नहीं बल्कि हमारी वैचारिक कमियां हैं, जिसके कारण निष्कर्ष के रुप में दोषपूर्ण प्रक्षेपण दृष्टिगोचर होता है। यदि हम भारतीय जनजातियों में स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययनों पर दृष्टिपात करें तो इस सम्बन्ध में दो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम– अधिकांश समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में जाति, वर्ग और शक्ति के मापदण्डों द्वारा सामाजिक स्तरीकरण को देखने का प्रयास किया है और अजनजातीय समुदाय में सामाजिक स्तरीकरण को ज्ञात करने के लिए भी इन्ही (शक्ति, सम्पत्ति, धन एवं सत्ता) को मापन के बतौर उपयोग में लिया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी विभिन्न अध्ययन क्रम–विन्यास और वर्ग निर्माण के दृष्टिकोण से किया गया है एवं उनकी अनुपस्थिति में, जनजातीय समाज में सामाजिक विभेदीकरण की अनुपस्थित होने की मान्यता प्रदान की गयी है। द्वितीय– अध्ययनों की यह स्थिति, तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे जनजातीय समुदाय में अजनजातीय समुदायों के लक्षणों की उपलब्धता, स्तरीकरण के उद्भुत होने की स्वप्नील प्रक्रिया का प्रकटीकरण करता है। भारत में जनजातीय समुदाय विकास के विभिन्न स्तरों पर विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में एक ही प्रारुप द्वारा सभी स्तर के समुदायों का अध्ययन, अध्ययन का

*** शासकीय महाविद्यालय, विजयराघवगढ़ , कटनी, म. प्र.** *e-mail: rajaramsinghrdvv@gmai.com*

निष्कर्ष व्यक्तिनिष्ठ वैचारिक पुनरावृत्ति मात्र बनकर रह जाता है, जिससे जनजातीय अध्ययनों की श्रृंखला अपने आप में विरोधाभासी अभिस्थापनों का संपुंज निर्मित करती है, जिसके कारण सैद्धान्तिक स्तर पर भारत में जनजातीय समुदाय समस्तरीय प्रतीत होता है तथा इससे विषय के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जनजातीय समुदाय में कार्यशील परिवर्तन की नवीन शक्तियों के प्रभाव के अर्थ में मान लिया जाता है कि जनजातीय समुदाय समस्तरीयता से विषमस्तरीयता में परिवर्तित हो रहा। जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण एक अस्तित्वात्मक संवृत्ति (फेनोमेना) है तथा अत्याधुनिक कृषि और औधौगिक समाजों में यह भिन्न अर्थ रखती है। सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त का संकेद्रियता या नृजातीयता, वर्ग और शक्ति का स्वरुप प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। जनजातीय समाज के इतिहास, संरचनात्मक विभेदीकरण, आर्थिक विकास के स्तर, औपनिवेशिक प्रभाव की प्रकृति और सामाजिक रुपान्तरण की आधुनिक शक्तियों को उद्घटित करने में सामाजिक स्तरीकरण सिद्धान्त का क्रियान्वयन और वास्तविक प्रकार्यात्मकता परिलक्षित होती है।(के. एल. शर्मा 2006:164–167)

सामाजिक विज्ञानियों द्वारा जनजातीय समुदाय में सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययनों में अभिहित विरोधाभास के दो कारण हैं, प्रथम– समाजविज्ञानियों ने स्तरीकरण को एक आयामी एवं स्थैतिक स्वरुप में स्वीकार किया है, जबकि स्तरीकरण बहुआयामी है, इसे विभिन्न– भाषायी, धार्मिक, व्यसायिक, लैगिंक इत्यादि संवर्गो में विभक्त कर देखा जाना चाहिए। (गुप्ताः1991:4) द्वितीय– जनजातीय विकास के प्रत्येक सोपानों के अध्ययनों के लिए एक ही मानक प्रारुप का प्रयोग। समाजवैज्ञानिकों के समक्ष यह बहुत बड़ी चुनौती है कि समूहों के जीवन पद्धति में अंतरस्थ विभिन्नता के आधार पर स्तरीकरण के मानक प्रारुप एवं उनके लागु होने वाली परिस्थितियों को सुत्रब्रद्ध किया जाय क्योंकि गांव, कस्बा, नगर एवं महानगरों की जीवन पद्धति एक समान नहीं है, इसके साथ साथ भारतीय गांवों की प्रकृति में भी विभेद पाया जाता है, यथा– एक जाति एक गांव, एक जाति कई गांव, कई जातियां एक गांव, बहु जातियां बहु गांव। (चौहानः1966) गांव की प्रकृति में भिन्नता न सिर्फ एक गांव की संरचना में विभेदीकरण लाता है, अपितु इन भौगोलिक इकाईयों में निवास करने वाले नृजातीय समूहों के रीति रिवाजों, परम्पराओं प्रथाओं तथा जीवन पद्धतियों में पर्याप्त वैविध्यता होती है।(दूबेः1975)

जनजातीय समुदाय में सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति हिन्दूओं के स्तरीकरण से भिन्न अर्थ रखता है। हिन्दूओं में सामाजिक स्तरीकरण स्वच्छता और अस्वच्छता की अवधारणाओं से निर्धारित होता है, जिसका प्रकटन अनुक्रम विन्यास में संस्तरित जातीय व्यवस्था के रुप में होता है तथा प्रत्येक जातियों के मध्य प्रकार्यात्मक निर्भरता पायी जाती है। जाति व्यवस्था के विशिष्ट मानकों के आधार पर जनजातीय समुदाय के विशिष्टताओं का विवेचन करते हैं तो दो तथ्य उभरते हैं– प्रथम– एक जनजाति, जाति व्यवस्था की भांति, एक सुसम्बद्ध व्यवस्था का भाग नहीं है बल्कि प्रत्येक जनजाति अपनी स्वतंत्र पहचान रखती है तथा जनजातीय समूहों में अन्तःनिर्भरता और सामान्यतया, अल्प मात्रा में पृथकता का (समुदाय में परिवर्तन स्तर के अनुरुप) गुण भी पाया जाता है। प्रत्येक जनजाति समूह अन्तर्विवाही है तथा जनजातीय समूह में अनुक्रम एवं संस्तरण व्यक्तिगत एवं सामुदायिक आवश्यकताओं को पूरित करता है, उपजनजाति, गोत्र, वंश समूह और परिवार आदि संरचनात्मक इकाईयां हैं। द्वितीय– सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण में यह आवश्यक नहीं है कि सभी व्यवस्थाओं में स्तरीकरण के साथ अनुक्रम विन्यास पाया जाता ही हो, हालांकि बाद के कुछ मामलों में विभेदीकरण का मूल्य बढ़ाया है फिर भी अनुक्रम विन्यास की धारणा स्तरीकरण का भाग नहीं है। (गुप्ताः1991:7) जबकि कुछ जनजातियां इस सम्बन्ध में पूर्णतया भिन्न है, यथा– बैगा, (सिंहः2013) तो कुछ जनजातियां जनजाति जाति निरन्तरता (रेडफिल्डः1941, सिन्हा) की प्रक्रिया द्वारा इसके निकट दिखाई देती है। यहीं यह मुद्दा बहुत ही प्रांसगिक हो जाता है कि जनजाति को हम किस रुप में समझते हैं? क्या जनजाति के कोई सार्वभौमिक मानदण्ड हो सकते हैं, जो जाति से भिन्न हों?

जनजातियों को संबोधित करने लिए समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न सम्बोधों का उपयोग किया है। बेन्स इन्हे 'वन्य जाति', वेरियर एल्विन ने 'मूल निवासी', अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने 'एबोरिजनल्स', हट्टन ने 'आदिम जनजाति', आर. के. दास तथा एस. आर. दास ने 'दलित मानवता', (बमर्जड ह्युमैनिटी) तथा घुरिये ने उन्हें

'तथाकथित आदिवासी', (सो कोल्ड एवोरिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दू होने के साथ साथ यह भी प्रस्तावित किया कि इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' के नाम से सम्बोधित किया जाना चाहिए। गिलिन एवं गिलिन (1965:282)के मतानुसार–''स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को जो कि एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।'' राल्फ पिडिग्टन (1950:164) मानते हैं कि ''हम एक जनजाति को व्यक्तियों के एक समूह के रुप में ब्याख्या कर सकते हैं जो कि समान भाषा बोलता हो, समान भू भाग में निवास करता हो तथा जिसकी संस्कषति में एकरुपता पायी जाती हो।'' चार्ल्स विनिक (1956:546) ने जनजाति की परिभाशा करते हुए स्पश्ट किया कि–''एक जनजाति में क्षेत्र, भाषा ,सांस्कृतिक समरुपता तथा एक सूत्र में बंधने वाला सामाजिक संगठन आता है। यह सामाजिक समूहों उपसमूहों जैसे गोत्रों या गांवों को सम्मिलित कर सकता है। वहीं इन सबसे भिन्न राबर्ट रेडफिल्ड (1973:5) विशेषतागत चित्रण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– ''आदिम पृथक्कृत समुदाय, ऐसा समुदाय है जो पूरी तरह स्वतःपूर्ण है, तथा अब जो एक सामान्य प्रत्यय मात्र है और सामान्यात्मक अनुभवों के द्वारा जिसका निर्माण हुआ है।'' हम यहां देखे कि विद्वानों में जनजाति के संबन्ध इतनी अधिक मत भिन्नता है कि उसे वैश्विक स्तर पर जनजाति की विशेषता प्रकट करने वाला प्रारुप स्वीकार नहीं किया जा सकता। सबसे महत्वपूर्ण बात यह भी है कि जनजातियों और कृषकों में भेद किस प्रकार किया जाय। मजूमदार व मदान ने ठीक ही कहा है कि– विभिन्न नृतत्ववेत्ताओं द्वारा दी गयी जनजाति की परिभाषाएं देखकर कोई भी जनजाति के रचनातत्वों के बारे में इनके दृष्टिकोंणों की असमानता का अंदाजा लगा सकता है। स्वजन सम्बन्ध, क्षेत्रीय आवास, एक भाषा, संयुक्त स्वामित्व, एक राजनीतिक संगठन, अंतरंग संघर्ष का अभाव, आदि जनजाति की मुख्य विशेषताएं बतायी गयीं हैं। कतिपय नृतत्ववेत्ताओं ने उक्त विशेषताओं में से कुछेक को जनजाति की विशेषता मानने से न केवल नकारा है, बल्कि इनका घोर विरोध भी किया है, जैसे रिवर्स क्षेत्रीय आवास को जनजाति का एक प्रमुख लक्षण नहीं मानते, जबकि पैरी जैसे लेखकों ने इस विशेषता पर आफी अधिक जोर दिया है और इतना तक बताया कि घुमक्कड़ जनजातियां भी एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत ही घुमती रहती हैं। रेडक्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलियाई आंकड़ो के आधार पर, एक ही जनजाति के विभिन्न वर्गो के बीच आपसी लड़ाई के उदाहरण भी दिये हैं। सुविज्ञ विचारों की ऐसी विविधता देखकर कोई भी यही निष्कर्ष निकाल सकता है कि जनजाति को परिभाषित करने वाले नष्तत्ववेत्ताओं के विचार केवल उन्हीं सूचनाओं पर आधारित होते हैं जिनसे वह सर्वाधिक अवगत होता है। ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि जनजाति की ब्यापक परिभाषा सम्भव है या नहीं? क्या जनजातियों और कृषकों में भेद हो सकता है? क्या इस भेद से कुछ लाभ है ? नदीम हसनैन (1997:13–14) कहते हैं –जनजातीय समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रियों द्वारा निवेशित समस्त प्रयासों के बावजूद एक जनजातीय समाज को परिभाषित करने का वास्तव में कोई मार्ग नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ यह होता है कि मानवशास्त्रियों ने कुछ अस्पष्ट प्रकार से एक से अन्य के वैषम्य का प्रयास किया है जो स्वयं भी उतना ही अस्पष्ट है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की परिभाषा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया बल्कि खामोशी से मान लिया कि आस्ट्रेलिया, मेलेनेशिया व अफ्रीका में जो उनके द्वारा अध्ययन किये जा रहे हैं वही जनजातीय समाज के विविध रुप हैं। जनजाति का कुछ अस्पष्ट रुप से समान सरकार, समान बोली, व समान संस्कृति रखने वाला कमोबेश समजातीय समाज मान लिया गया। यद्यपि प्रत्येक ब्यक्ति आन्द्रे बेतेई (1966) की मान्यता कि जनजाति तथा कृषक नामकरण का प्रयोग इस प्रकार के सामाजिक संगठन के लिए करना तथा एक दूसरे से वैषम्य करके चरित्रांकन करना निःसन्देह सम्भव है, से सहमत नहीं होगा लेकिन उसका यह कथन इस समस्या का निकटता से दृढ़ अध्ययन करने वाले अनेक विचारों में से एक के रुप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन्होंने सुझाव दिया कि जनजाति अथवा जनजातीय समाज की निष्कर्षात्मक परिभाषा करना सहज नहीं है तथा इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का मानकीकरण प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है इसलिए जनजाति की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वब्यापी स्तर से हट जाना अधिक अच्छा होगा तथा अपनी समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत ही मानकीकरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान केन्द्रित करना ठीक होगा। इस सम्बन्ध में के. एल. शर्मा (2006:85)का कथन है कि भारत में जनजातियों को समझने के लिए 'जन' 'कृषक' और 'नगर' या 'जनजातीय' 'जन' और 'अभिजात' के बीच विभेदों का विष्लेशण खास लाभदायक नहीं है।

भौगोलिक बाधा संचार की समस्या, तुलनात्मक सांस्कृतिक स्वायत्तता और आर्थिक निर्भरता के बावजूद बिहार की जनजातियों में पारस्परिक अन्तःक्रिया और सहयोग होते रहे हैं, जनजातीय संस्कृति में कुछ अंश तक कृषक संस्कृति के तत्व विद्यमान हैं। जनजातीय अनन्यता, समाप्त न हुई एकात्मकता, जनजातीय चेतना तथा दूसरी ओर कस्बों, शहरों और पशासन पर निर्भरता तथा अपने शासकों के विरुद्ध संघटन जनजातीय समाज में सदैव विद्यमान रहे हैं। जनजातीय आदिमता के पुनर्जीवित करने का प्रयास भी बाह्य हस्तक्षेप और नियमों और नियमनों के थोपने के विरोध ा के रुप में अभिव्यक्त किया गया है। उनका मत है कि बिहार के आदिवासी मुख्यतः कृषक हैं और इसलिए उनकी आर्थिक समस्याओं को समझाने का आधार उनकी कृषकता होनी चाहिए।

ए. आर. एन. श्रीवास्तव (2007:3) ने तथ्यगत समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए कहा कि– ''स्वतंत्र भारत के संविधान में वर्णित अनुसूचित जनजाति की सूची का आधार वही है, जिसे अंग्रेजो ने तैयार किया था। सूची तैयार करते समय जनजाति की मानवशास्त्रीय परिभाषा पर विशेष ध्यान न देकर केवल उन्हे सम्मिलित किया गया जो हिन्दू वर्ण ब्यवस्था के बाहर थे।'' किन्तु यह आरोप पूर्णतया सत्य प्रतीत नहीं होता जैसे गोंड़, प्रधान आदि जनजातियां अधिकांशतया हिन्दू धर्म को मानती हैं, लेकिन वे अनुसूचित जनजाति की सूची में हैं तथापि अंशतः यह सत्य भी है कि कुछ जनजातियां जो अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में नहीं होना चाहिए तथा उनका नाम अनुसूची में है जबकि कुछ समूहों को अनुसूची में शामिल होना चाहिए जैसे उत्तर भारत के वनटांगिया आदि घुमन्तु समूह, उनका नहीं है। भारतीय संविधान के 322वें अनुच्छेद में कहा गया है कि अनुसूचित जनजातियों का अर्थ ऐसी जनजातियों से या जनजातीय समुदायों से है, जिन्हें अनुच्छेद 342 में संवैधानिक उद्देश्य के लिए अनुसूचित जनजातियों की सूची में रखा गया है। अंग्रेजी शासन द्वारा सर्वप्रथम वर्ष 1932 में निर्मित आदिम जाति सूची एवं तत्पश्चात वर्ष 1935 में गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार विभिन्न प्रान्तों में पिछड़ी जनजातियों के निर्धारण की सहायता से वर्ष 1950 में संवैधानिक आदेश के द्वारा निम्न वर्णित लक्षणों वाली जनजातियों को अनुसूचित जनजातियों में रखा गया –

(1) परम्परागत दृष्टि से एक भौगोलिक क्षेत्र में निवास।
(2) आदिम स्वरुप वाली विशिष्ट संस्कृति जिसमें भाषा, परम्परागत रीतिरिवाज एवं धार्मिक विश्वास सम्मिलित है।
(3) शैक्षिक, आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से पिछड़ी हुई।
(4) अर्थब्यवस्था एवं ब्यवसायिक पद्धतियों में आदिम सभ्यता की झलक।
(5) अन्य समुदायों के सम्पर्क में आने के बाद भी अपना स्वतंत्र अस्तीत्व बनाए रखने वाली।

इन परिभाषाओं से राष्ट्रहित तो पूर्ण हो जाता है किन्तु यह प्रश्न उठता है कि बिषय के दृष्टिकोण से क्या उचित है कि प्रत्येक देश के समाजशास्त्री अपने ही देश के परिप्रेक्ष्य में जनजाति को परिभाषित करें? क्या इससे समाजशास्त्र अथवा मानवशास्त्र को वैज्ञानिक स्तर पर बनाए अथवा वैज्ञानिक स्तर तक पहुॅच सकेगें? इसका उत्तर निश्चित रुप से नकारात्मक ही मिलेगा, यदि समाजशास्त्र अथवा मानवशास्त्र को अपने को वैज्ञानिक स्तर तक ले जाना अथवा बनाए रखना है तो उसे ऐसी परिभाषाओं का निर्माण करना चाहिए जो सभी जनजातीय समाजों पर लागू हो, यह कार्य अपेक्षाकृत कठिन है किन्तु असम्भव नहीं। मजूमदार व मदान (2004:210) कहते हैं कि–सार्वभौम विशेषताओं की ऐसी सूची भी बनाई जा सकती है जिससे किसी भी जनजाति को परिभाषित करने में सहायता ली जा सकती है–

''भारत में जनजाति निश्चित ही एक क्षेत्रीय समूह है। प्रत्येक जनजाति का एक पारम्परिक क्षेत्र होता है, और प्रवासी जनजातीय सदस्य भी इसे ही अपना गृह क्षेत्र बताते हैं। आसाम के चाय बागानों में काम करने वाले संथाल बिहार और बंगाल के किन्हीं विशेष क्षेत्रों को ही अपना घर बताते हैं। जनजाति के सभी सदस्य आपस में स्वजन नहीं होते, किन्तु प्रत्येक भारतीय जनजाति में स्वजन प्रथा एक सशक्त संगठनात्मक, नियंत्रणात्मक एवं एकात्मक सिद्धान्त के रुप क्रियाशील रहती है। इसी का परिणाम है कि जनजातियां अन्तर्विवाही होती हैं और कुलों एवं उपकुलों में बंटी रहती हैं। ये कुल स्वजन समूह होने के नाते बहिर्विवाही होते हैं। प्रत्येक भारतीय जनजाति के सदस्य अपनी, या अपने पड़ोसियों की, एक समान भाषा बोलते हैं। सामूहिक स्तर पर, अन्तर्जनजातीय संघर्ष भारतीय जनजातियों का लक्षण नहीं है। सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व भी स्वामित्व का एकमात्र रुप नहीं है, चाहे जनजाति आदि में यह प्रचलित हो। यूं राजनैतिक दृष्टि से भारतीय जनजातियों पर राज्य सरकारों का नियन्त्रण होता है, किन्तु प्रत्येक जनजाति का

आन्तरिक राजनैतिक संगठन विविध स्तरीय पंचायतों पर आधारित पाया जाता है। भारतीय जनजातियों के कुछ अन्य विशिष्ट लक्षण भी हैं। जैसे युवागृह संस्था, लड़कों व लड़कियों के लिए स्कूली शिक्षा का अभाव, जन्म विवाह एवं मृत्यु सम्बन्धी विशिष्ट प्रथाएं, हिन्दूओं और मुसलमानों से भिन्न नैतिक विधान, धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों की विशिष्टताएं, जो जनजातियों एवं नीची जातियों के हिन्दूओं के बीच अंतर तक बता सकती है।''

ए. आर. देसाई (1961:51–52) ने उन जनजातीय समूहों जो अभी तक संस्कृतिकरण तथा आत्मसात्करण का विरोध करते आये हैं, के कुछ सामान्य लक्षणों पर प्रकाश डाला है जो एक समय में सभी जनजातियों में पाये जाते थे। ये सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं– सभ्य जगत से दूर पर्वतों व जंगलों में अत्यन्त दूर्गम स्थानों में निवास, निग्रिटोज एस्ट्रोलायड अथवा मंगोलायड में से किसी एक प्रजातीय समूह से सम्बन्धित, समान जनजातीय बोली का प्रयोग, आदिम धर्म में विश्वास जो कि सर्वजीववाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जिसमें भूत प्रेत तथा आत्माओं की पूजा का विशेष स्थान है। वे जनजातीय व्यवस्थाओं को अपनाते हैं जैसे प्राकृतिक उपयोगी वस्तुओं का संग्रह, शिकार, वन में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का संग्रह। वे अधिकांशतः मांस भक्षी हैं। वे प्रायः नग्न अथवा अर्द्धनग्न अवस्था में रहते हैं तथा कपड़ों के स्थान पर पेड़ की छाल तथा पत्तों का प्रयोग करते हैं। उनकी आदतें खानाबदोशी होती हैं तथा वे मद्यपान तथा नष्त्य में विषेश रुचि रखते हैं। देसाई के अनुसार अब भारत में कुल जनजातीय संख्या के 1/5 भाग में ही ये सामान्य लक्षण पाये जाते हैं। भारत में जनजातीय जनसंख्या विकास के विभिन्न चरणों पर पाई जाती हैं।

उपरोक्त विष्लेशण के आधार पर जनजाति की एक विस्तष्त लाक्षणिक रुपरेखा प्रस्तुत किया जा सकता है–

;1द्ध वे समूह जो पर्वतों के समीप या जंगलों में निवास करते हों अथवा घुमन्तु जीवन ब्यतीत करते रहे हों।

;2द्ध ऐसे समूह जो हों, उनमें ब्यक्तिगत स्तर पर तो कार्य का विषेशीकरण प्राप्त होता है लेकिन सामूहिक रुप में नहीं।

;3द्ध सभ्य समाजों ,समुदायों तथा समूहों से सापेक्षतया अधिक आत्मनिर्भरता।

;4द्ध अपनी आवष्यकताओं की परिपूर्ति जंगल, भूमि व षिकार से करते रहे हों।

;5द्ध अन्य सथ्य समाजों के सापेक्ष निम्न स्तर पर जीवन यापन करते हों।

;6द्ध उनकी अपनी बोली व विषिश्ट संस्कषति हो।

;7द्ध स्वजन व्यवस्था का महत्व व नियन्त्रण अन्य सभ्य समुदायों से सापेक्षतया अधिक हो ।

;8द्ध ऐसे समूह जिनमें राजनीतिक संगठन व कानून हो अथवा निवास स्थल पर अनौपचारिक राजनीतिक हो, जिसमें वह समूह भागीदार हो, फिर भी यह आवष्यक नहीं है कि स्वतंत्र राजनैतिक संगठन हो ही फिर भी एक धुधली सी कानून ब्यवस्था हो सकती है जो उन्हें नियन्त्रित करती है।

;9द्ध ऐसे समूह जिनमें सामाजिक एकीकरण की मात्रा अन्य समाजों के सापेक्ष उच्च पायी जाती है और आपसी संघर्श अपेक्षाकष्त कम होते हैं। यद्यपि यह ध्यान रखने योग्य है कि एक समूह या समुदाय का आकार लघु व अपेक्षाकष्त कम वर्गीकष्त भी हो सकता है अथवा कई उपसमूहों ;उपजनजाति, गोत्र, कुल व वंष आदिद्ध में बॅटा हुआ भी, ऐसे में प्रत्येक लघु समूह एक एकक है जिससे उसके सदस्य आपस में पहचान रखते हैं व बाह्य लोगों के लिए वे सभी समूह एक ही एकक में संगठित होते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त सभी लक्षण किसी समूह अथवा समुदाय में पाये ही जायें, इनमें से कुछ की मात्रा अधिक तो कुछ की मात्रा कम हो सकती है। यह भी हो सकता है कि परिवर्तन के दौर में वह लक्षण परिवर्तित हो गये हों, क्योंकि जनजातियां विकास के विभिन्न स्तरों पर अवस्थित हैं, फिर भी यह सत्य है कि उनमें यह लाक्षणिक विशेषताएं पायी जाती रही होगीं, उनके पहचान हेतु उनके मौखिक इतिहास ज्ञात करना होगा।

I

सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिस्थापित आयामों की श्रृंखला समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के मुलभूत मुद्दे संरचना और प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ रुप में अन्तर्सम्बन्धित हैं। भारत में सामाजिक स्तरीकरण संबन्धी अध्ययनों की दो मुख्य अभिस्थापनायें परिलक्षित होती हैं–प्रथम– अध्ययन में स्वच्छता–अस्वच्छता, पवित्रता–अपवित्रता और क्रमविन्यास आदि अवधारणाओं के मानकों का अनुपालन। द्वितीय– स्तरीकरण की अभिस्थापना– आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र के अभिजनों द्वारा किया जाना। भारत में जनजातीय अध्ययनों के अवलोकन से यह तथ्य विदित होता है कि अभी तक

जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययनों का अभाव है, जबकि जनजातियों में स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययन भारतीय समाज को सर्वांग रुप में समझने का महत्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करता है तथा इसे समझे बिना भारतीय समाज व्यवस्था की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि जाति और जनजाति (दोनों ही) भारतीय समाज व्यवस्था का अंग है एवं यह प्रश्न संरचना और प्रक्रिया के सिद्वान्त से भी घनिष्ठ रुप में अन्तर्सम्बन्धित है।

योगेन्द्र सिंह (1985) ने भारत में स्तरीकण के संपूर्ण अध्ययनों (सैद्धान्तीक और आनुभविक) को संरचनात्मक प्रकार्यात्मक, संरचनात्मक, संरचनात्मक ऐतिहासिक और ऐतिहासिक भौतिकवाद या मार्क्सवाद पद्धति पर आधारित कोटिक्रम में रखा है। सामाजिक स्तरीकरण का संरचनात्मक प्रकार्यवादी पद्धति जाति को क्रम विन्यास की व्यवस्था के रुप में समझती है। यह पद्धति जातियों के मध्य परस्पर सहयोग की व्यवस्था के रुप में विश्लेषित करता है, यद्यपि संरचनात्मक उपागम के द्वारा ड्युमा (1970) ने होमो हेरारकिकस में सामाजिक स्तरीकरण को विशेषीकृत स्वरुप में अध्ययन किया है। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजविज्ञानियों के बढ़ते रुझान ने विशुद्ध सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन की मात्रा को नकारात्मक रुप में प्रभावित किया है। सामाजिक मानवशास्त्रीयों के समक्ष ड्युमा के संरचनात्मक उपागम, देसाई (1948), लींच (1960), बेली (1960), सच्चिदानंद (1964) और विद्यार्थी (1965,1970) के अनुसरण के अतिरिक्त विकल्पों का अभाव प्रतीत होता है। समाजविज्ञानियों का भारत एवं विश्व के अधिकांश देशों में जनजातीय अध्ययनों का मुख्य केन्द्र विन्दू संकेंद्रित (नृजातीय) आयामों की ओर रहा है, जिसके फलस्वरुप मुख्यतया गोत्र, नातेदारी और धर्म के विश्लेषण को परिसीमित हो गया, जो सैद्धान्तिक अभिस्थापन के विषय में संरचनात्मक और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पद्वति का अनुप्रयोग करने वाले समाजविज्ञानी सर्वाधिक अभिरुचि ज्ञापित करते हैं। भारत में सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी अध्ययनों का तीसरा अभिस्थापन संरचनात्मक ऐतिहासिक है। संरचनावाद ऐतिहासिकतावाद की अनदेखी कर देता है और कहीं कहीं पर आनुभविक तथ्यों के अभाव में संरचना का स्वरुप ही स्पष्ट नहीं होता तथा सामान्यक राजनीति से ही अभिप्रेरित हो जाता है। सिंह (1977) ने पाया कि इस उपागम में दो आयाम हैं– मार्क्सवादी और अमार्क्सवादी। जो मार्क्सवादी नहीं हैं, वे ऐतिहासिकतावादी, पुनः विभेदीकरण का ही अध्ययन करते हैं। सामाजिक सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों के द्वारा सर्वाधिक संरचनात्मक ऐतिहासिक उपागम का उपयोग आनुभविक तथ्य संकलन में किया गया है, यद्यपि भारत में अधिकांश अध्ययन जाति एवं वर्ग से सम्बन्धित है, जो कि इस सैद्वान्तिक प्रारुप के अन्तर्गत नहीं आता लेकिन फिर भी इन अध्ययनों ने कृषक, कृषक संरचना और कृषकता के विषय में ज्ञान को विस्तारित किया है। अमार्क्सवादीयों के अन्तर्गत भारत में जनजातियों का अध्ययन करने वाले प्रारम्भिक मानवशास्त्रीयों यथा– डाल्टन, रिजले, क्रुक आदि, को रखा जा सकता है। भारत में सामाजिक स्तरीकरण का चतुर्थ अभिस्थापन मार्क्सवादी उपागम है, जिसने संघर्ष, संरचना और इतिहासवाद की विशिष्टता को विशेषीकृत किया तथा अपने आप को उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन सम्बन्ध में ऐतिहासिक शक्तियों पर केन्द्रित किया। उत्पादन संबन्ध और उत्पादत की शक्तियां इतिहास के निश्चित द्वंद्व से अन्तर्सम्बन्धित हैं। इसके अन्तर्गत ए.आर. देसाई (1959,1977), डी. डी. कौशाम्बी (1956), एस.ए. डांगे (1949) आदि को रखा जा सकता है।

II

भारत में जाति व्यवस्था में अनुक्रम निर्धारण पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर होता है, जिसका मापन विचार एवं मूल्यों के द्वारा किया जाता है। संक्षेप में हम कहें तो जाति व्यवस्था प्रकार्यात्मक रुप से परस्पर निर्भरता की एक व्यवस्था है। विभिन्न जातियों के मध्य अनुक्रम निर्धारण सामूहिक अभिव्यक्ति है, जो वेदों, पुराणों, तथा ग्रंथों आदि के आधार पर व्याख्यायित किये जाते हैं। जनजातियों में स्तरीकरण हिन्दू समुदाय से भिन्न एक जटिल संपुंज को अभिव्यक्त करता है। भारत में एक तरफ शिकार अवस्था में जीवन यापन करने वाले कुछ जनजातीय समुदाय पूर्णतया आत्मनिर्भर रहे हैं, यथा– चेंचू वहीं कुछ जनजातीय समुदाय काफी कुछ मात्रा में अन्तःनिर्भर रहते हुये अंशतः अन्य जनजातीय समुदायों पर निर्भर रहे है, यथा– बैगा, गोंड, परधान, धोबा, पनका आदि, वहीं बाह्य समुदायों के सम्पर्क, स्थायी निवास की अवधि, विभेदीकरण के विभिन्न प्रतिमान को उद्भुत कर रहा है। जनजातियों में अन्तर्विवाह के नियम का कठोरतापूर्वक पालन किया जाता है तथा प्रत्येक जनजाति अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इनमें अनुक्रम विन्यास का अभाव पाया जाता रहा है, लेकिन बाजारोन्मुखी अर्थव्यस्था में प्रवेश, एक पीढ़ी या कुछ दशकों से स्थायी

एवं मिश्रित गांव में निवास, जनजातियों में सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि तथा असमानता के आयाम को अभिव्यक्त कर रहा है, साथ ही अनुक्रम विन्यास का नवीन आयाम भी उद्‌भुत हो रहा है, एवं यह व्यक्तिगत अथवा परिवार, वंश समूह व गोत्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु स्थानीय परिधि के बाहर भी विस्तारित हो रहा है।

III

जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण एक आयाम (प्राथमिक स्तर) ही प्रस्तुत नहीं करता है, अपितु ग्रामीण नगरीय अन्तःक्रिया की प्रक्रिया (वृजराज चौहानः1990) ने परिवर्तन की शक्तिओं का संपर्क जनजातियों तक सुनिश्चित किया है तथा परिवर्तन की आंतरिक एवं वाह्य शक्तियां (योगेन्द्रसिंहः2006:54) जनजातियों को राष्ट्र–राज्य (प्रहलाद मिश्राः 29फरवरी से 1मार्च 2008) के केन्द्र (संवैधानिक रूप से वे केन्द्र में आ चुके हैं) में आने की प्रक्रिया को तीव्र बना रही है। जनजातीय समूहो में अंतरस्थ विकास योजनाओं की स्वीकार्यता, जागरुकता की दर, सापेक्षतया स्तरीकरण में अभिवृद्धि की प्रवृत्ति को असमान रुप में प्रभावित कर रही है। ओरांस (1965) ने संथाल जनजाति का अध्ययन किया और परामर्श दिया कि संथाल भी अपने पडोसियों के मानसीक सामाजिक परिधि द्वारा अनुक्रम को स्वीकार करते हैं। टोपनो (1970) ने मुण्डा जनजाति में स्तरीकरण को विवेचित करते हुए कहा कि ये लोग अपने बच्चों का नाम हिन्दूवाद और इसाईवाद के शब्दों में रखने लगे हैं। प्रसाद (1975) ने बिहार के पालामउ जिला में पहारिया जनजाति में सामाजिक स्तरीकरण और अन्तःक्रिया का विवेचन किया तथा कहा कि जनजातीय समूह जाति व्यवस्था के अभिलक्षण यथा– जजमानी व्यवस्था को स्वीकार कर रहे हैं। शाह (1976) ने यह सूचित किया कि गुजरात के भरुच और पंचमहल जिला में स्थापित स्तरीकृत जनजातीय समूहों के संबंध में सूचित किया कि आधुनीकिकरण और सरकार द्वारा चलायी जा रही योजनाओं की शक्तियों के कारण जनजातीय समाज में समस्तरीयता और समानता समाप्त हो गयी है। बोस (1981) ने गुजरात की जनजातीय कृषकों में चार लक्षणों की पहचान की है– धनी कृषक, मध्यम कृषक, गरीब कृषक और कृषि श्रमिक। सबसे निचले अनुक्रम व्यवस्था में कृषि श्रमिक हैं, इसकी संख्या सर्वाधिक है तथा ये भूमिहीन हैं, कुछ कृषि श्रमिकों के पास एक एकड़ अनुपजाऊ भूमि है। ये अपने श्रम को बेचते हैं, इसलिए इन्हें कृषि श्रमिक कहा जाना अधिक ठीक है। जनजातीय सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया यथा अन्तर्विवाही शक्तियां, जनजातियों को विभाजित करती हैं उनके सदस्य सदष्ढ़ समूह के साक्षी हैं तथा यह स्थिति उनके समुदाय में सुदृढ़ स्तरीकरण को प्रतिबिम्बित करता है। पाथी (1984) ने गुजरात के पॉच जनजातीय गांवों का अध्ययन किया और सम्पूर्ण जनसंख्या को पॉच आर्थिक संवर्गो में बॉटा है–जमींदार, धनी कृषक, मध्यम कृषक, लघु कृषक तथा खेतों में कार्य करने वाले मजदूर। सिंह (1985) ने भी उल्लेख किया है कि पश्चिमी बगाल और विहार की जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण विद्यमान है तथा जनजातीय समाज और उसकी प्रस्थिति कृषक जाति ध्रुव में परिवर्तित हो रही हैं। सरकार (2000) ने सांस्कषतिक मशीनीवाद का संकेन्द्रिय परिधि पुनर्स्थापान जंगल में रहने वाले धोदिया पर अध्ययन किया तथा बताया कि रानी परज और मैदानी भाग में निवास करने वाले धोधिया के नाम से जाना जाता है, उन्होंने पाया कि इन दोनों में भौतिक सामग्री का उपभोग, धन, वस्त्र, सामाजिक व्यवहार समान है और यह स्थिति समूह अन्तःक्रिया और औध ोगिकीकरण को उद्‌घटित करता है। दास गुप्ता (2000) भील जनजाति की महिलाओं में पहचान और संघर्ष को अवलोकित किया जो जीविका के लिए अवैद्य कार्यो में संलग्न हैं। भील समूह में संघर्ष स्पष्ट रुप से परम्परागत जीवन पद्धति का त्याग और व्यवसायिक औद्योगिक स्तर में प्रवेश किया है। यह स्थिति नगरीकरण के प्रभाव को प्रतिबिम्बित करता है। अमिताभ सरकार एवं समीरा दास गुप्ता (2007) ने छत्तीसगढ़ के बस्तर की मुरिया, मारिया, भतरा, धुर्वा, दोरला तथा हल्बा जनजातियों में स्तरीकरण को स्पष्ट किया है। उन्होंने पाया कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण बस्तर की जनजातियॉ जनजाति ध्रुव से कृषक ध्रुव की ओर गतिशील हैं। विनय कुमार श्रीवास्तव (2010) ने अपने अध ययन में यह पाया कि टोडा, बदगा कुरुम्बा तथा कोटा जनजाति में हिन्दूओं की विशेषता देखने को मिलती है, इनमें सहजीवी अन्तर्सम्बन्ध है एवं यह जजमानी ब्यवस्था का एक गुण है और यह विषेशता जाति ब्यवस्था की है।

IV

भारतीय जनजातियों में स्तरीकरण का सर्वांग स्वरुप में अध्ययन एक दुष्कर कार्य है, इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न जनजातीय समुदाय विकास के भिन्न भिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते है, साथ ही हिन्दुत्वीकरण, इसाईकरण की प्रक्रिया इस समस्या को और भी जटिल बना देता है। भारत में जनजातियों का एक बड़ा भाग या तो इसाई धर्म स्वीकार कर चुका है अथवा हिन्दू धर्म स्वीकार कर चुका है, यथा– पूर्वोत्तर भारत में निवास करने वाली जनजातियां खासी, नागा, गारो, कछारी, असम के चायबगानों में कार्य करने वाले संथाल, गुजरात की भील, कोटवालिया, काथुड़, चौधरी, बसावा, विहार के संथाल, मुण्डा, मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के गोंड़ इत्यादि जनजातियों का एक बड़ा भाग इसाई धर्म स्वीकार कर चुका है तथा जनजाति जनसंख्या के अधिकांष भाग में हिन्दू धर्म के लक्षण प्रकट होते है। जनजातियों में इसाईकरण की प्रक्रिया स्वतःस्फुरित नहीं अपितु इसाई मिशनरियों का एक सुगठित समूह कार्य करता हैं तो हिन्दू धर्म के तत्वों का जनजातियों प्रसरित होने के प्रमुख कारक, पड़ोसी जाति अभिलक्षणें से युक्त गांवों से अन्तःक्रिया तथा अल्प मात्रा में सुगठित संगठन कार्य करते हैं। इस सम्बन्ध में दो तथ्य अति महत्वपूर्ण हैं– प्रथम– समाजविज्ञानियों द्वारा किसी जनजातीय समुदाय के सदस्यों द्वारा इसाई धर्म स्वीकार करने को इसाईकरण एवं हिन्दू धर्म के तत्वों की उपस्थिति की स्थिति में, पूर्व में हिन्दूत्वीकरण तथा वर्तमान में परिवर्तन की प्रक्रिया जनजाति से जाति की ओर मानी जाती है। द्वितीय– इसाईकरण, हिन्दूत्वीकरण, जनजाति से जाति, जनजाति से वर्ग, प्रक्रियायें मूलतः सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियायें हैं न कि सामाजिक। भारत में इन प्रक्रियाओं से गुजरी हुई जनजातीय समूहों का दृष्टिपात करें तों यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी परम्परागत सांस्कृतिक परंपराओं का त्याग नही किया है बल्कि दूसरे (इसाई या हिन्दू) तत्त उनकी संस्कषति में जुड़ गये हैं। यहां यह प्रश्न उभरता है कि क्या ऐसी अवधारणाओं का अनुप्रयोग सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में उपयोगी है अथवा नहींध यद्यपि परिवर्तन की प्रक्रियायें विभेदीकरण में अभिवृद्धि करती है, जिसके फलस्वरुप स्तरीकरण के स्वरुप में परिवर्तन आता है, चाहे वह सामाजिक परिवर्तन हो अथवा सांस्कृतिक परिवर्तन तथा सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से तुलनात्मक रुप में काफी व्यापक है, जिसके अंतर्गत सामाजिक परिवर्तन आ जाता है, फिर भी समाजविज्ञानियों का यह प्रयास होना चाहिए कि भिन्न भिन्न अध्ययनों के लिए सुस्पश्ट अवधारणाओं का उपयोग किये जायें।

जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण भिन्न भिन्न स्तरों पर विद्यमान रहा है। भारत में जनजातीय समुदाय को व्यवसायिक आधार पर मुख्यतया चार भागों में वर्गीकष्त किया जा सकता है–

1– पूर्णतया खाद्य संग्रहण एवं श्किारी स्तर– भील, बैगा, चेंचू, नागा

2– कृषि स्तर– गोंड़, संथाल, चौधरी, गामीत, थारु

3– पशुपालन– टोडा, बदगा

4– शिल्पकार– कोटवालिया, काथुड़, अगरिया

स्वतंत्रता एवं वन कानूनों के विर्निमाण के पूर्व उपरोक्त कोटिकृत जनजातीय समूहों में सामाजिक स्तरीकरण को निम्न स्वरुपों में रखा जा सकता है– कृषि स्तर पर जीवन यापन करने वाले जनजातीय समुदाय स्थायी गांवों में निवास करते थे तथा पूर्णतया खाद्य संग्रहण एवं शिकारी स्तर पर जीवन यापन करने वाले जनजातियों के समूह का एक भाग स्थायी तथा एक भाग घमन्तु जीवन शैली का अनुसरण करता था। शिल्पकार जनजातियां कृषि कार्य करने वाली जनजातियां के समीप ही निवास करती थी तथा पशुपालक पूर्णतया घुमंतु जीवन शैली का अनुसरण करते थे। अधिकांशतया स्थायी गांवों एवं समूहों की प्रकृति समान संकेन्द्रिय होती थी। ऐसे समूहों में सामाजिक स्तरीकरण नेतृत्वकर्ता समूह (ग्रामीण पदाधिकारी) एवं सामान्य जन के रुप में दिखाई देता है लेकिन तत्कालीन समय में अनुक्रम विन्यास का अभाव मिलता था, जिसे कुछ विद्वानों ने समस्तरीय कहा है, साथ ही सामाजिक संगठन के प्राथमिक आध ाार स्तरीकरण के आधारभूत मानक थे।(सिंहः2013) इसे ही सच्चिदानंद (1990) ने खुटकाटीदार व्यवस्था के नाम से संबोधित किया है। थापर एवं सिद्धकी (1991) ने मुण्डा जनजाति के सामाजिक संरचना और उसमें विभेदीकरण के इतिहास का अध्ययन किया और पाया कि खुटकाटी व्यवस्था मुण्डा जनजाति पर आधारित है। मुण्डा जनजाति में पहान और महतो गोत्र के मुखिया है, ये काफी शक्तिशाली है तथा इनके सहयोग से गांव में ''परजा'' गांव में निवास करती है। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण की प्रवषति खुटकाटी व्यवस्था के साथ प्रारम्भ हो चुकी थी तथा राज्य के अंतर्गत

मात्र उसकी गति में वृद्धि ही नहीं हुई अपितु बहुत सी जटिलताओं के साथ क्षेपक भरने के लिए बहुस्तरीय मध्यस्थों को बनाया। यद्यपि खुटकाटीदार पूर्णतया स्वतंत्र नहीं अपितु राज्य में उसका राजा सबसे बड़ी सत्ता थी, कृषि एवं शिल्पकारी स्तर पर जीवन यापन करने वाली जनजातियों पर राजा का प्रुभत्व स्थापित था क्योंकि ऐसी व्यवस्था जमींदारी महासंरचना के साथ लम्बे समय तक न सिर्फ छोटानागपुर अपितु मध्यप्रदेश के गोड़ जनजाति में स्थायित्व नहीं ग्रहण कर सकती थी, लेकिन खाद्य संग्रहण एवं शिकारी स्तर पर जीवन यापन करने वाली जनजातियों पर राजा का प्रभाव स्थापित नहीं था बल्कि अधिकांश जनजातियां राजा की सत्ता को स्वीकार नहीं करती थीं इसलिए वे घने वनप्रांतर में पलायन कर गये थे, यथा– बैगा छोटा नागपुर के निवासी माने जाते हैं, जो वर्तमान छत्तीसगढ़ के मैदानी भागों में आये तथा हैहयवंशी राजपूतों से बचने के लिए वे घने जंगलों की ओर पलायन किये। इसमें दो तर्क महत्वपूर्ण हैं, प्रथम– बैगा प्रारम्भ से ही पृथक्कीकृत जीवनशैली का अनुशरण करते रहे है तथा द्वितीय– विवाह के समय उनके द्वारा राजा रानी का संबोधन यह संकेत करता है कि छोटा नागपुर में उनका राज्य था और वे दूसरे राजा का आधिपत्य स्वीकार करना नहीं चाहते थे। (सिंहः2013) बिटिश शासन काल में (छोटा नागपुर में 17वी शताब्दी में) अधिकांश जनजातीय क्षेत्रों में व्यापारीं, धनाढ्य भूधारी एवं ब्राम्हणों का एक नवीन वर्ग अभ्युदित हुआ, जिसने सामुदायिक एवं समानवादी विरोधी सिद्धांत को प्रमाणित किया तथा अंग्रेजी सरकार द्वारा शक्ति अर्जित किया, जिसके फलस्वरुप जनजातियों की जमींदारी व्यवस्था का प्रत्यक्ष या अप्रत्क्ष रुप में सहभागिता सुनिश्चित हुई। इस काल में कृषकीकरण, अजनजातीकरण, इसाई में धर्मांतरण, जनजातीकरण के बहुत से साहित्य उपलब्ध होते हैं। अंग्रेजी सरकार द्वारा विनिर्मित विभिन्न अधिनियमों ने जनजातियों को वनों के दोहन के अधिकार से वंचित कर दिया, फलस्वरुप खाद्य संग्रहण एवं शिकारी स्तर पर जीवन यापन करने वाले जनजातीय समुदायों को अन्य व्यवसाय को अपनाना पड़ा, जिससे ये कृषि, दस्तकारी तथा कृषि श्रमिक बनने के लिए विवश हुए, यथा– कोटवालिया जनजाति पूर्व में कृषि, आखेटन तथा दस्तकारी स्तर पर जीवन यापन करती थी, वन कानूनों के आने से उन्होंने कृषि और शिकार करना बंद कर दिया तथा दश्तकारी को मुख्य व्यवसाय बनाया एवं कृषि श्रमिक के रुप में कार्य करने लगे, भील जनजाति पूर्णतया कृषि पर निर्भर हो गये, जिसके फलस्वरुप पश्चिमी भारत में तीन वर्ग उभरे कृषक, कृषि श्रमिक तथा काश्तकार, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि परम्परागत व्यवस्था (नेतृत्वकर्ता समूह (ग्रामीण पदाधिकारी) एवं सामान्य जन) पूर्णतया समाप्त हो गयी बल्कि अभ्युदित स्तर ने परम्परागत व्यवस्था के साथ अनुकूलन स्थापन कर लिया जो एक वृहद व्यवस्था (अंग्रेजी राज) के अंतर्गत शक्ति केंद्रिकरण को प्रोत्साहित किया।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय सरकार द्वारा जनजातियों के विकास हेतु संवैधानिक उपबंधों की व्यवस्था की गयी, जिसकी संपूर्ति हेतु आरक्षण की व्यवस्था किया गया। एक तरफ जनजातियों से वन के उपयोग सम्बंधी अधिकार को परिसीमित किया गया, वहीं दूसरी तरफ स्थायी कृषि के लिए भूमि का पट्टा भी प्रदान किया गया तथा इनके विकास में गति प्रदान करने के लिए विभिन्न कार्यक्रम चलाया गया, जिसके फलस्वरुप जनजातियां स्थायी निवास बनाने के लिए बाध्य हुई तथा राज्य की वृहद राजनीतिक संरचना में जनजातियों को अधिग्रहित करने के लिए छोटी छोटी बस्तियों का (ग्राम व्यवस्था ग्राम पंचायत के रुप में) एकीकरण एवं शक्ति आरोपण ने मिश्रित जनजातीय गांव को उद्भुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका संपादित किया। इससे दो प्रकार की संरचनाए समानांतर रुप से उभरी, प्रथम– सरकारी सुविधाओं एवं विभिन्न क्षेत्रों में आरक्षण के कारण जनजातीय सदस्यों का शिक्षा अर्जित कर लिपिक, प्राध्यापक, डाक्टर, इंजिनियर, आई.ए.एस., पी.सी.एस. इत्यादि सरकारी एवं वैयक्तिक सेवाओं में आना सुनिश्चित हुआ तथा वर्तमान समय ये विभिन्न राजनीतिक स्तरों (लोकसभा, राज्य सभा, विधान मंडल, विधान परिषद, नगर पालिका, पंचायत के तीनों स्तरों इत्यादि) पर प्रतिधित्व कर रहे है। ऐसी स्थिति में यह कहना प्रासंगिक है कि जनजातीय जनसंख्या का एक भाग वर्गीय संरचना में प्रविष्ट हो रहा है।(शाहः2008) दूसरी तरफ, विभिन्न जनजातीय समुदायों का एक मिश्रित गांवों में निवास करने से आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति में ह्रास हुआ है तथा वे एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित होते जा रहे है, जिसके फलस्वरुप इनमें जाति व्यवस्था के तत्व उद्भुत हो रहे है। ऐसे गांवों में सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण में पवित्रता और अपवित्रता का स्थान स्वच्छता और अस्वच्छता ने ले लिया है, जिसमें प्रभु जनजाति की अवधारणा प्रासंगिक दिखाई देती है।(सिंहः2013)

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अरोरा, जी. एस.(1972) ट्राइब–कास्ट एनकाउण्टर, हैदराबादः एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कालेज आफ इंडिया।
ओरांस, मार्टिन, (1965) द संथालः ए ट्राइब इन सर्च आफ ए ग्रेट ट्रेडिसन, डेट्रोटः वेन स्टेट युनिवर्सिटी प्रेस।
कौशाम्बी, डी.डी. (1956) इंडियन हिस्ट्री, बाम्बे पापुलर बुक डिपॉट।
गुप्ता, दीपांकर (1991) सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
गिलिन एवं गिलिन (1965) कल्चरल सोशियोलाजी, बाम्बे, प0282
चौहान, बृजराज (1966) ए राजस्थान विलेज, वीर पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।
चौहान, बृजराज (1990) रुरल अर्बन आर्टिकुलेशन, इटावा, ए.सी. ब्रदर्स।
थापर, रोमिला एण्ड सिद्धकी, मजिद हयात (1991) ट्राइबल्स इन हिस्ट्रीः द केस आफ छोटानागपुर, इन दिपांकर गुप्ता (एडी.) सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, देलहीः आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस,पृ. 419–430
जान्सन, हेरी. एम. (1990) समाजशास्त्रः एक विधिवत विवेचन, कल्याणी पब्लिशर्स नई दिल्ली।
टोपनो, सेम. (1970) चेंजिंग पैटर्न ऑफ मुण्डा पर्सनल नेम, एस्टर्न एन्थ्रोपोलाजिस्ट, 23;2द्धरू 171.178ण
डांगे, एस.ए. (1949) इंडिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिकेशन टु स्लेवरी, बाम्बे, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।
डेविस, किंग्सले (2005) मानव समाज, किताब महल इलाहाबाद।
दासगुप्ता (2000) ''एथिनीसिटीः आइडेंटिटी एण्ड कान्फ्लिक्ट एमांग ट्राइबल वुमेन लेबररर्स'' जर्नल आफ इण्डियन एन्थ्रोपोलाजीकल सोसायटी, 35:125–128
देसाई, ए.आर. (1959,1948) सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, बाम्बे, पापुलर बुक डिपॉट।
देसाई, ए.आर. (1956) ''ट्राइब्स इन ट्रांजिसन'',(पृ15–28) संपादन, ट्राइब कास्ट, रिलिजन इन इण्डिया, देलही मैकमिलन कं. इण्डिया।
देसाई, ए.आर. (1961) रुरल इण्डिया इन ट्रान्जिसन, पापुलर प्रकाशन।
देसाई, ए.आर. (2004) भारतीय राश्ट्रवाद की सामाजिक पष्ठभूमि, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड देलही।
दुर्खीम, ई. (1933) द डिविजन आफ लेबर इन सोसायटी, लंदन कोहेन एण्ड वेस्ट।
दूबे, श्यामाचरण (1975) एक भारतीय ग्राम, नेषनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली।
नायक, टी.वी. ;1956द्ध द भील्सः ए स्टडी, देलही।
पारसंस, टॉलकट (1954) ''एन एनालिटिकल एप्रोच टु द थ्योरी आफ सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, इन एस्से इन सोशियोलाजिकल थ्योरी, न्यु देलही एण्ड लाइफ पब्लिशर्स।
पाथी, जगन्नाथ (1984) ट्राइबल पिजेन्ट्रीः डाइनामिक्स आफ डेवलवमेंटः न्यु देलहीः इंटर इंडिया पब्लिकेशन।
प्रसाद, आर.के. (1975) ''सम आस्पेक्ट आफ स्ट्रेटिफिकेशन इंटरेक्सन एमांग द परहिया आफ पालामऊ'' जर्नल आफ सोशल रिसर्च, 18(1):59–65
पिडिंग्टन, राल्फ (1950) एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल एन्थ्रोपोलाजी, न्युयार्क एफ.ए. प्रेजर।
बेली, एफ.जी. (1960) ट्राइब्स–कास्ट एण्ड नेशनः ए स्टडी आफ पोलिटिकल एक्टिविटी एण्ड पोलिटिकल चेंज इन हाईलैण्ड उड़ीसा, मैनचेस्टरः मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस।
बेताई, आन्द्रे (1966) कास्ट क्लास एण्ड पावर, बाम्बे, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस।
बोस, ए. के. (1941) हिन्दू मैथड आफ ट्राइबल एबजार्प्सन, साइंस एण्ड कल्चर, 7:188–194
बोस, पी.के. ''स्ट्रेटीफिकेशन एमांग द ट्राइब आफ गुजरात'' इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल विकली, फर. 7,1991, 191–196
मजुमदार, डी.एन. एवं मदान, टी. एन. (2004) सामाजिक मानवशास्त्रः परिचय, मयुर पेपर बैक्स, नोएडा।

माइंस, डियने पी. (2009:75) कास्ट इन इंडिया, एसोसिएसन फार एसियन स्टडीज, इंक, 1021 इस्ट हुरन स्ट्रीट।
मिश्रा, प्रहलाद (29फरवरी से 1मार्च 2008) इमिग्रेसन एण्ड मोविलिटी इन ए विलेज आफ इस्टर्न उ.प्र., षोध पत्र, इन्टेन्सिव विलेज स्टडी, गोविन्द बल्लभ पन्त इन्स्टीट्युट आफ सोशल साइंसेज इलाहाबाद।
रेडफिल्ड, रावर्ट (1941) द फोक कल्चर आफ युकोटान, सिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, सिकागो।
रेडफिल्ड, राबर्ट(1979) कृषक समाज तथा कृषक संस्कृति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
लिंच, एडमंड आर. (1960) एस्पेक्ट आफ कास्ट इन साउथ इण्डिया, सेलोन आफ नार्थवेस्ट पाकिस्तान, लंदनः कैम्ब्रिज युनीवर्सिटी प्रेस।
शर्मा, के.एल. (1960) सोशल स्ट्रेटिफिकेशन एण्ड मोविलिटी, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।
शर्मा, के. एल. (2006) भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशन जयपुर एवं नई दिल्ली।
शाह, घनश्याम (2007) स्ट्रेटिफिकेशन एमांग द सैड्युल्ड ट्राइब्स इन द भरुच एण्ड पंचमहल डिस्ट्रिक आफ गुजरात, सूरतः सेंटर आफ रिजनल डेवलपमेंट स्टडीज।
शाह, घनश्याम (2008) ट्राइबल आइडेंटिटी एण्ड क्लास डिफरेंसिएसनः द चौधरी ट्राइब्स, इन दिपांकर गुप्ता (एडी.) सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, देलहीः आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस,
विनिक, चार्ल्स (1956) डिक्शनरी आफ एन्थ्रोपोलाजी, न्युयार्क फिलासाफिकल लाइब्रेरी।
विद्यार्थी, एल.पी. (1965) कल्चरल कांटर्स आफ ट्राइबल विहार, कलकत्ताः पंथी पुस्तक।
विद्यार्थी, एल.पी (1970) राइज आफ सोशल साइंस इन इंडियाः एन एन्थ्रोपोलाजिकल ओरिएंटेशन, बाम्बे एसिया पब्लिसिंग हाउस।
सरकार, अमिताभ (2000) ''कल्चरल मैकेनिज्म आफ एथनिक बाउण्ड्री मेंटेनेंस एमांग धोदिया'' साउथ एसियन एन्थ्रोपोलाजिस्ट, 21 (2):111–114
सरकार, अमिताभ एवं समीरा दास गुप्ता (2007) स्ट्रेटिफिकेशन आफ बस्तर ट्राइब्स, कमला राज, स्टडी. ट्राइब्स ट्राइबल्स, 5(2):97–102
सच्चिदानंद (1964) कल्चर चेंज इन ट्राइबल बिहार, कलकत्ताः बुकलैण्ड।
सच्चिदानंद (1990) पैटर्न्स आफ पोलिटिको इकोनोमिक चेंज एमांग ट्राइबल इन मिडिल इंण्डिया, इन फ्रेंसिन आर. फ्रेंकेल एण्ड एम.एस.ए. राव (एडी.) डोमिनेंस एण्ड स्टेट पावर इन मार्डन इंडियाः डेक्लाइन आफ ए सोशल आर्डर, देलहीः आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, पप्278–320
सिंह, योगेन्द्र (1977) सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड चेंज इन इण्डिया, देलही मनोहर।
सिंह, योगेन्द्र (2006) भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण, रावत पब्लिकेशन जयपुर।
सिंह, के.एस. (1985) ट्राइबल सोसायटी इन इण्डिया, न्यु देलहीः मनोहर।
सिंह, राजा राम (2013) बैगा एवं कोटवालिया जनजाति की सामाजिक सांस्कषतिक संरचनाः एक तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित शोध प्रबंध, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर।
सिन्हा, सुरजीत, ट्राइब्स कास्ट कान्टीन्युम, मेन इन इंण्डिया, वो.45 नं.1
श्रीवास्तव, विनय कुमार (2010) सोशियो इकोनामिक करेक्टरस्टिक आफ ट्राइबल कम्युनिटिज दैट काल देम सेल्व हिन्दू, इंडियन इंस्टिट्युट आफ दलित स्टडीज एण्ड रेलिजियस एण्ड डेवलपमेंट प्रोग्राम नई दिल्ली वो01
श्रीवास्तव, ए.आर.एन. (2007) जनजातीय भारत, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
हसनैन, नदीम (1997) जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली।